REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
UGC APPROVED JOURNAL NO. 48514
VOLUME - 8 | ISSUE - 9 | JUNE - 2019

प्राचीन भारत में ग्राम स्वराज अवधारणा का ऐतिहासिक अध्ययन

तेजराम सिंह
अंशकालिक प्रवक्ता राजनीति विज्ञान विभाग, झम्मन लाल पी. जी. कालेज, हसनपुर, अमरोहा, उ0प्र0

सारांश

प्राचीन काल में गाँव ही शासन तन्त्र की धुरी था। ग्राम पंचायतें स्थानीय स्वशासन के रूप में कार्यरत थीं। इन पंचायतों में धर्म का नियमन, उद्योग व्यापार एवं दैनिक गतिविधियों का संचालन निहित था। वैदिक युग में स्थानीय शासन की समर्थ इकाइयाँ सभा, समिति एवं विदथ थीं। प्राचीन भारतीय ग्रन्थ ऋग्वेद से पता चलता है कि उस समय प्रशासनिक इकाइयों के नाम 'कुल', 'ग्राम', 'विश', और 'जन' थे। ऋग्वेद काल में राजनीतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई कुटुम्ब थी। परिवार का सबसे वृद्ध पुरूष कुटुम्ब का प्रधान होता था। अनेक कुटम्बों के समूह को 'ग्राम' कहा जाता था। ग्राम के अधिकारी को 'ग्रामीण' कहते थे। 'ग्रामीण' ग्राम का प्रशासनिक अधिकारी होता था अनेक ग्रामों के समूह को 'विंश' कहते थे और उसका अधिकारी विशपति कहलाता था। अनेक विश मिलकर जन की रचना करते थे। जन के प्रधान अधिकारी को 'गोप' कहा जाता था। मुख्यतः 'गोप' राजा का ही नाम था। गोप तत्कालीन शासन व्यवस्था का सर्वोपरि पद था। वैदिक काल में राज्य छोटे–छोटे होते थे। इसी कारण ग्रामों का महत्व और भी अधिक था। वैदिक एंव उत्तर वैदिक काल में पंचायतें स्थानीय समस्याओं को स्थानीय स्तर पर सुलझा लेती थी।

अथर्ववैदिक काल की राजनीति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है शासक का निर्वाचन। समिति में राजा का चुनाव होता है। समिति के सभापति को 'ईशान' कहते थे। अथर्वकाल में गाँव उद्योग धन्धों के प्रमुख केन्द्र थे। गाँव में ही बढ़ई, कर्मकार, रथकार रहते थे। गाँवों में कृषि की उत्तम व्यवस्था थी। वैदिक संहिताओं में दो शब्दों की उपलब्धि होती है। स्वराज्य और वैराज्य। 'स्वराज' का अर्थ स्वयं शासक (Self Ruler) और पूर्ण शासक है। 'स्वराज्य' एक सनातन राज्य हैं। ऋग्वेद में सार्वभौम राजा को स्वराट कहा गया है। वैदिक काल में गणतन्त्र विद्यमान थे। वैदिक साहित्य में रूद्रगण, मरूद्गण आदि का उल्लेख मिलता है। स्वराज मूलतः एक वैदिक शब्द है, जिसका अर्थ आत्म–शासन और आत्म संयम है। हम अपने ऊपर राज करें। वही स्वराज है। स्वराज लोक–सम्मति से होने वाला शासन है। गाँधी ने स्वराज के अर्थ का विस्तार करते हुए यह तर्क दिया कि स्वराज का अर्थ केवल राजनीतिक स्तर पर विदेशी शासन से स्वाधीनता प्राप्त करना नहीं हैं, इसमें सांस्कृतिक और नैतिक स्वाधीनता का विचार भी निहित है। यदि कोई समाज राजनैतिक दृष्टि से तो स्वाधीन हो परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से पराधीन हो तो वह स्वाधीन होते हुए भी स्वराज–विहीन होगा। ग्राम–स्वराज ऐसी आदर्श व्यवस्था है जिसमें सब लोग कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्र के निर्माण में योग देते हैं। स्वराज सच्चे लोकतंत्र का पर्याय है। ग्राम–स्वराज एक अहिंसक जनतांत्रिक राज्य है। जहाँ सामाजिक व्यवहार स्वयं नियमित होगा। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक स्वयं होता है। इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता होती है।

बीज शब्द – सभा, समिति, गणतन्त्र, स्वराज्य और वैराज्य।

प्रस्तावना

प्राचीन भारत में ग्राम–स्वराज का दीर्घकालिक इतिहास रहा है। ग्राम–स्वराज व्यवस्था के विश्लेषण हेतु अतीत से वर्तमान तक इसकी विकास यात्रा का अध्ययन अनिवार्य है–**चार्ल्स मैटकॉफ** का अग्रांकित कथन स्थानीय संस्थाओं की ऐतिहासिकता को सिद्ध करता है एवं भारतीय सन्दर्भ में सत्य सिद्ध होता है कि ''सीरियन, ग्रीक, अफगान, मंगोल, डच व अंग्रेज आये, शासन स्थापित किया व चले गये, किन्तु ग्रामीण शासन उसी प्रकार अछूता रह गया जिस प्रकार ज्वार–भाटा के उतार–चढ़ाव से एक विशाल पत्थर अछूता रह गया।''[1] प्राचीन काल में गाँव ही शासन तन्त्र की धुरी था। ग्राम पंचायतें स्थानीय स्वशासन के रूप में कार्यरत थीं। इन पंचायतों से धर्म का नियमन, उद्योग व्यापार एवं दैनिक गतिविधियों का संचालन होता था। इस ऐतिहासिक चरण में विभिन्न युगो में स्थानीय स्वशासन का भिन्न–भिन्न स्वरूप प्रकट होता है जिसका विवेचन निम्नलिखित है–

वैदिक युग में ग्राम–स्वराज का स्वरूप (5000 ई0पू0 से 2500 ई0पू0 तक)– वैदिक युग में स्थानीय शासन की समर्थ इकाइयाँ, सभा, समिति एवं विदथ की सांगठनिक इकाइयों के रूप में विद्यमान थीं। ग्राम स्तर पर पंचायत का शासन 'ग्राम–स्वराज' एवं ग्राम–स्वशासन भाव का प्रतिपादक था।''[2]

प्राचीन भारतीय ग्रन्थ ऋग्वेद से पता चलता है कि उस समय प्रशासनिक इकाइयों के नाम 'कुल', 'ग्राम', 'विश', 'जन' थे। ऋग्वेद काल में राजनीतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई कुटुम्ब थी। परिवार का सबसे वृद्ध पुरूष कुटुम्ब का प्रधान होता था। अनेक कुटम्बों के समूह को 'ग्राम' कहा जाता था। ग्राम के अधिकारी को 'ग्रामीण' कहते थे। 'ग्रामीण' ग्राम का प्रशासनिक अधिकारी होता था अनेक ग्रामों के समूह को 'विंश' कहते थे और उसका अधिकारी विशपति कहलाता था। अनेक विश मिलकर जन की रचना करते थे। जन के प्रधान अधिकारी को 'गोप' कहा जाता था। मुख्यतः 'गोप' राजा का ही नाम था। गोप तत्कालीन शासन व्यवस्था का सर्वोपरि पद था।[3] अतः तत्कालीन शासन का सांगठनिक स्वरूप है–

- कुल–ग्राम–विश–जन
- वृद्धपुरूष– ग्रामीण–विशपति–गोप(राजा)

वैदिक काल में राज्य छोटे–छोटे होते थे। इसी कारण ग्रामों का महत्व और भी अधिक था।[4] वैदिक एंव उत्तर वैदिक काल में पंचायत होती थी जो स्थानीय समस्याओं को स्थानीय स्तर पर सुलझा लेती थी। **मनुस्मृति** में ग्राम को राज्य के ढांचे की सबसे छोटी राजनैतिक इकाई माना गया है।[5] उस समय ग्राम सभाएं और समितियों का अपना विशेष महत्व था। समाज के गणमान्य एंव प्रतिष्ठित लोगों की इन समस्याओं के प्रस्ताव को राजा अस्वीकार नहीं कर सकता था। गाँव के अधिकारी को 'ग्रामिक' व दस गाँवों के प्रधान को 'दशी' तथा बीस गाँव के प्रधान को विशपति व सौ गाँव के मुखिया को 'शत ग्रामाधिपति' कहते थे। ये समस्त पदाधिकारी राजा के द्वारा नियुक्त होते थे। ग्राम, समाज की इकाई होने के कारण राजनैतिक व्यवस्था का आधार भी ग्राम ही था।[6]

प्राचीन काल में प्रायश्चित्तों के निर्धारण एवं नियोजन के लिए एक परिषद् थी। वस्तुतः परिषद् का मुख्य कार्य प्रायश्चित विधान करना था और उनके पालन के लिए पूर्ण प्रयास करना था। उपनिषद काल तक आते–आते 'परिषद्' एवं समिति जैसे शब्दों ने एक निश्चित अर्थ ग्रहण कर लिया था। जिसका तात्पर्य था किसी विशिष्ट स्थान में विद्वान लोगों की सभा। बौधायन धर्मसूत्र से यह व्यक्त होता है कि लगभग 5वीं शती ईसवीं पूर्व में परिषदों का महत्व पर्याप्त बढ़ गया था और वे प्रायश्चित्त व्यवस्था के अतिरिक्त अन्य कार्यों को भी सम्पादित करती थीं। मनु के अनुसार 'परिषद्' का कार्य अपराध की प्रकृति और गम्भीरता को ध्यान में रखकर प्रायश्चित्त का निर्धारण करना था। यही नहीं, यदि प्रायश्चित्त शास्त्रों में प्रतिपादित नहीं होते थे तो भी परिषद् अपने विवेक के द्वारा उनका निर्धारण करती थी। **याज्ञवल्क्यस्मृति** में यह उल्लिखित हैं कि दोषी या अपराधी व्यक्ति को विद्वान ब्राह्मणों के समक्ष अपना दोष कहना पड़ता था और परिषद् द्वारा निर्धारित किए गए प्रायश्चित्त उसे करने पड़ते थे। **शंकराचार्य** ने भी आठवीं–नवीं शताब्दी में **वृहदारण्यकोपनिषद** के भाष्य में स्पष्ट किया है कि धर्म के सूक्ष्म निर्णय का दायित्व परिषद् पर ही था। प्राचीन भारत में परिषद् एक नाममात्र की संस्था न थी वरन उसे वैधानिक आधार प्राप्त था। **रामशरण शर्मा** के अनुसार ऋग्वेद के समय से ही 'परिषद्' का अस्तित्व प्रमाणित है।[7]

सामाजिक और सम्पत्ति सम्बन्धी उत्तरदायित्व के अतिरिक्त धार्मिक कार्यों में भी परिषद् की महत्वपूर्ण भागीदारी थी। यजुर्वेद में अग्नि के लिए 'परिषद्' विशेषण प्रयुक्त है जो परिषद् में अग्निदेव की उपस्थिति का सूचक हैं। **सायण** ने 'परिषद्य' शब्द की व्याख्या 'सभा' में जाने की योग्यता रखने वाला (सभा योग्य) की है। एक परवर्ती ब्राह्मण में परिषद् का उल्लेख राजसभा के रूप में हुआ है जिसके सदस्यगणों में वाद–विवाद होता था। परिषद् और राजा का गठनबन्धन था। इस प्रकार परिषद् और राजा मिलकर सुदृढ़ शासन–व्यवस्था के स्तम्भ थे। परिषद् अपनी प्राचीनता एवं प्रभाव के कारण जनजीवन को नियमित एवं नियंत्रित करती थी। चूँकि परिषद् के सदस्य अपनी योग्यता के कारण समाज में पर्याप्त प्रतिष्ठित होते थे इसलिए उनसे अन्याय की आशा नहीं की जा सकती थी। गौतम के अनुसार, ''परिषद् में कम से कम चार सदस्य वेदों के ज्ञाता तथा तीन सदस्य धर्मशास्त्र के ज्ञाता अवश्य सम्मिलित होते थे। परिषद् के सदस्यों की संख्या 10 होती थी। गौतम का तो यहाँ तक कहना है कि आवश्यकता पड़ने पर एक व्यक्ति परिषद् का रूप ले सकता है परन्तु वह व्यक्ति वेद का गम्भीर अध्येता तथा शिष्ट होना चाहिए। परिषद् की महत्ता समाज में इसलिए भी थी कि उसमें ब्राह्मण लोग ही सदस्य के रूप में कार्य कर सकते थे। परिषद् के सदस्य केवल विद्वान ही नहीं हुआ करते थे, अपितु उनमें नैतिक गुण भी विद्यमान रहते थे।[8] इस प्रकार परिषद् कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका के स्वरूप में थी।

छगन मेहता ने प्राचीन ग्रामीण व्यवस्था के प्रति समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाते हुये यह बताया है कि गाँवों में प्राचीन यज्ञ प्रणाली का सामाजिक महत्व अत्यधिक था। पंचायत के लिए इसका बड़ा महत्व था। नाई, चमार, लुहार, कुम्हार, सुनार आदि का विशिष्ट कार्य था। सभी का सामाजिक व्यवस्था में निश्चित स्थान था। इन सब की जाति पंचायतें होती थी। इन सभी की ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था में अहम् भूमिका थी। सभी को एक निश्चित सामाजिक दर्जा प्राप्त था। समाज के सभी वर्ग एक–दूसरे पर आश्रित थे। अर्थव्यवस्था वस्तु या सेवा के विनियम (Barter System) पर आधारित थी। व्यक्ति धनी हो या निर्धन सामाजिक व्यवस्था के सम्मुख आर्थिक असमानता का कोई महत्व नहीं था। उत्पादन के साधनों पर समाज का पूर्ण नियंत्रण था। उत्पादन व्यवस्था पर व्यक्तिगत अधिकार किसी का नहीं था। उत्पादन के सारे साधन ग्राम के हाथ में थे या ग्रामीण समाज के हाथ में थे। सम्पूर्ण व्यवस्था कृषि पर आधारित थी। इसे इन्द्र देव ने **'सुखद सभ्यता'** (Pleasant Civilization) की संज्ञा दी। यह व्यवस्था एक प्रकार की सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती थी। सभी वर्गों की न्यूनतम आवश्यकतायें आवश्यक पूरी हो जाती थीं। उस समय गाँवों में समाजवाद तो नहीं था, किन्तु एक समता मूलक स्थिति अवश्य थी।[9] **राधाकुमुद मुकर्जी** का मत है कि प्राचीन भारत का विश्वास केन्द्रीकरण में न होकर सामूहिक स्वशासन में था। जिसके लिए विकेन्द्रीकरण अवश्य था। उस समय का प्रत्येक गाँव स्वशासित था। गाँव की राजनीति पर राज्य की राजनीति का अधिक प्रभाव नहीं था।[10]

अथर्ववेद में **'संसद'** का भी उल्लेख है। **सायण** ने इसका अर्थ **'सभा'** किया है। अथर्वकाल में दो प्रकार की शासन प्रणालियाँ थीं। 1. एकतन्त्र, 2. गणतन्त्र। गण के साथ महागण शब्द भी मिलता है। **कात्यान** ने कुलों के समूह को **गण** कहा है। अथर्ववेद में भी गण शब्द मरूतों के साथ मिलता है। इस काल में अनेक विद्वान कुलीन शासन प्रणाली के साथ गणतन्त्र शासन की स्थिति स्वीकार करते हैं। अथर्ववैदिक काल की राजनीति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है शासक का निर्वाचन। समिति में राजा का चुनाव होता है। समिति के सभापति को **'ईशान'** कहते हैं। अथर्वकाल में गाँव उद्योग धन्धों के प्रमुख केन्द्र थे। गाँव में ही बढ़ई, कर्मकार, रथकार रहते थे। गाँवों में कृषि की उत्तम व्यवस्था थी। वैदिक संहिताओं में दो शब्दों की उपलब्धि होती है। **स्वराज्य** और **वैराज्य**। अथर्ववेद के अनुवादक **ह्विटनै** महोदय और वैदिक इडेक्स के लेखकों ने **'स्वराज'** का अर्थ स्वयं शासक (Self Ruler) और पूर्ण शासक किया हैं। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि 'स्वराज्य' एक सनातन राज्य हैं। ऋग्वेद में सार्वभौम राजा को स्वराट कहा गया है। ऋषियों ने इन्द्र को 'स्वराट' की उपाधि प्रदान की थी। अथर्ववेद में स्वराज्य की अनुगामिनी राजनीतिक व्यवस्था को **विराट** कहा गया है। वैराज्य व्यवस्था स्वराज व्यवस्था पर आश्रित थी।[11] इससे स्पष्ट होता है कि स्वशासन परशासन से अच्छा था।

प्रारम्भ में इतिहासकारों की धारणा थी कि राजतंत्रों के अतिरिक्त गणतंत्रों का अस्तित्व नहीं था किन्तु वर्तमान शोधों से स्पष्ट हो चुका है कि वैदिक काल में ही गणतन्त्र विद्यमान थे। वैदिक साहित्य में रूद्रगण, मरूद्गण आदि का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य और पाणिनि क्रमशः **''वार्तास्त्रोपजीवी''** एवं **''आयुधजीवी''** का वर्णन करते हैं। इन्द्र, मरूद तथ बृहस्पति गणपति कहलाये। सायण (वेदों के भाष्यकार) ने 'गणकर्माणि' के सन्दर्भ में इसका विश्लेषण किया है। माज्झिम निकाय में संघ और गण शब्द समान अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं।

के0पी0जायसवाल का मत है कि 'गण' शब्द शासन प्रणाली का बोधक हैं। गणों से गणपति का विकास हुआ। गणों में सभी समान थे कोई विभेद नहीं था। **डॉ0 रामशरण शर्मा** के शब्दों में "The Vedic Ganga was Probably in the nature of primitive tribal democracy." **अवदानशतक** में उल्लेख मिलता है कि 'कुछ देश गणों के अधीन है तथा कुछ राजाओं के' **(केचिद्देशा गणाधीनाः केचिद् राजाधीनाः)**। मालव, यौधेय तथा आर्जुनायन गणों की मुद्रायें भी गणराज्य की जीवन्तता पर प्रकाश डालती है।[12] उपर्युक्त वैदिक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि गणराज्य गाँधी के ग्राम–स्वराज के समान अर्थ में प्रचलित था।

आर्यो में कई जातियाँ ऐसी थी, जिसमें राष्ट्र का प्रमुख राजा नहीं होता था, इसके बदले उनमें गणतान्त्रिक प्रणाली प्रचलित थी। यदुवंश राज्यों में गणतंत्र था। **ऋग्वेद** में गण, गणपति और ज्येष्ठ आदि का उल्लेख पाया जाता है। समिति और सभा का मूलरूप स्पष्ट गणतान्त्रिक हैं। **अथर्ववेद** में वीतिहव्यो के गणतन्त्र का उल्लेख है, जो 'हैहयों' की एक शाखा थी। **भगवान श्रीकृष्ण** यादव गणराज्यों के संघ के प्रमुख थे।[13] **वैदिक काल** में सभा ग्राम संस्था थी तथा समिति एक राजनीतिक संस्था थी। समिति का कार्य राजा का निर्वाचन करना था।[14]

सूत्र–काल में गणराज्य (2500 ई0पू0 से 1500 ई0पूव तक)– उत्तर वैदिक काल के अन्त तक भारतीय समाज, संस्कृति और उसके साहित्य का बहुत विस्तार हो चुका था। बढ़ते हुए ग्रन्थ एवं ज्ञान का संरक्षण एक समस्या बन गई थी। सभी को उनके पूरे विस्तार में स्मरण और कंठाग्र करना संभव नहीं था। उनका वर्गीकरण और संक्षेपण आवश्यक था। जिस शैली में यह कार्य सम्पन्न हुआ उसे सूत्र शैली कहते हैं। **सूत्र** का अर्थ है सूत या डोरा अर्थात् (संक्षिप्त, सारगर्भित वाक्यांश) जो बड़े–बड़े तात्त्विक व्याख्यानों को धारण किये रहता है।[15] सूत्रकाल में दो प्रकार के राज्यों का उल्लेख किया गया है। 1. राजतंत्र और 2. गणतन्त्र। **पाणिनी** के **अष्टाधायी** में गण और संघ की चर्चा आती है। अकेले गणतान्त्रिक राज्य को गण और गणों के समूह को संघ कहते थे। ये ऐसे राज्य थे जिनमें प्रमुसत्ता एक व्यक्ति में न होकर समूह के हाथ में थी। इनकी कार्यपद्धति द्वन्द्वात्मक अर्थात् दलों पर आधारित थी।[16] प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से राज्य कई इकाइयों में विभक्त था। यह विभाजन दशमलव पद्धति पर आधारित था। सबसे छोटी इकाई 'ग्राम' थी। इसके ऊपर दशग्राम विशतिग्राम, शतग्राम, सहस्रग्राम और राज्य था। इनके अधिकारी ग्रामिक, विशतिय, शतग्रामी, अधिपति अैर राजा होते थे। राजा की सहायता और पथ–प्रदर्शन के लिए दो संस्थायें थीं– 1. मंत्री परिषद् और 2. सभा। मंत्री परिषद् में सभी वर्ण (ब्राह्मण–4, क्षत्रिय–8, वैश्य–21, शूद्र–3, धर्मज्ञाता–1) के प्रतिनिधि रखे जाते थे। मंत्रीपरिषद में कुल 37 मंत्री होते थे। राजसभा भी राजा की सहायता, न्याय तथा में हुआ है। इनमें मुख्य अन्धक, वृष्णि, कुकुर और भोज थे जो सभी यादवों की विविध शाखा में से थे। सम्पूर्ण राज्य गण कहलाता था। कार्यकारिणी के सदस्यों को गणमुख्य और उसके अध्यक्ष को प्रधान कहते थे। गणों की मुख्य विशेषतायें थी स्वतंत्रता की भावना, समता का सिद्धान्त, विनय, संविधान का पालन, विधि की प्रधानता तथा नियमित कार्य पद्धति। गणों के अतिरिक्त व्यावसायिक वर्ग कुल (परिवारों का संघ), जाति (व्यावसायिक जाति) श्रेणी (कारीगरों का संघ), **पूग** (ग्राम समाज) में संगठित था।[18]

(अ) महाकाव्य रामायण में ग्राम स्वराज का स्वरूप– बाल्मीकीय रामायण केवल भारतवर्ष का ही नहीं वरन् विश्व का एक महानतम ग्रन्थ है। इस महाकाव्य से ज्ञात होता है कि आज से हजारों वर्ष पूर्व जब विश्व के अन्य देश ज्ञान, सभ्यता और संस्कृति और परस्पर व्यवहार की दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े थे तो उस समय भारत इन सभी क्षेत्रों में बहुत अधिक विकसित था। बाल्मीकि की **रामायण** संस्कृत में है। यह माना जाता है कि यह सूत्र काल की रचना है।[19]

बाल्मीकि ने राज्य को सप्तांग स्वरूप में माना है। उसके अनुसार राज्य के ये सात अंग राजा, अमात्य, जनपद, कोष, पुर (दुर्ग), दण्ड (सेना) तथा मित्र है। रामायण काल राजतन्त्रात्मक राज्यों का काल था परन्तु रामायण में परिषद्, समिति तथा संसद तीन शब्दों का उल्लेख मिलता है। परिषद् का उल्लेख अमात्य काण्ड तथा युद्ध काण्ड में है एवं समिति तथा संसद का उल्लेख केवल युद्धकाण्ड में है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये एक ही संस्था के नाम थे। इस परिषद् के सदस्य प्रतिष्ठित एवं विद्वान होते थे तथा उनका चुनाव सामान्य नागरिकों एवं विद्वान होते थे तथा उनका चुनाव सामान्य नागरिकों में से किया जाता था। इन परिषदों में नगरों

के व्यापारिक समूहों और जनपदों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे।[20] रामायण में परिषद् एवं जनपदों के उल्लेख से प्रतीत होता है कि उस समय भी प्रतिनिधित्व एवं विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था मौजूद थी।

(ब) महाकाव्य महाभारत में ग्राम स्वराज का स्वरूप– महाभारत का स्थान प्राचीन भारतीय पद्धति एवं राजनीतिक विचारों के अध्ययन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसकी रचना काल के बारे में मतभेद है। फिर भी यह 10वीं ई0पू0 का ग्रन्थ माना जाता है। महाभारत में वर्णित विचार मुख्यतः **भीष्म** द्वारा प्रतिपादित है। उन्हीं के विचारों को राजनीतिक विचारों की संज्ञा भी दी जाती है। भीष्म को भीष्म पितामह भी कहा जाता है। महाभारत भारतीयों का धर्मग्रन्थ है। महाभारत में कुरूक्षेत्र में हुई कौरवों और पाण्डवों की लड़ाई का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस महाकाव्य में 18 पर्व हैं। पर्वों का अर्थ खण्डों (Parts) से है। ये पर्व हैं– 1. आदि, 2. सभा 3. वन, 4. विराट, 5. उद्योग, 6. भीष्म, 7. द्रोण, 8. कर्ण, 9. शल्य, 10. सौप्तिक, 11. स्त्री, 12. शान्ति, 13. अनुशासन, 14. अश्वमेघ, 15. आश्रमवासी, 16. मौसल, 17. महाप्रस्थानिक, 18. स्वर्गारोहण।[21] महाभारत में भीष्म पर्व का बहुत महत्व है क्योंकि इसमें भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ 'गीता' मौजूद है। इस प्रकार महाभारत का विषय राजनीतिक होने के साथ धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक भी है।

महाभारत के शान्ति पर्व में राज्य की उत्पत्ति के दो सिद्धान्त हैं– 1.दैवीय सिद्धान्त 2. सामाजिक समझौते का सिद्धान्त। शान्तिपर्व में एक स्थान पर यह उल्लेख मिलता है कि भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था कि राज्य की उत्पत्ति से पूर्व न कोई राजा था और न कोई दण्ड देने वाला था। यह अराजक व्यवस्था थी। मत्स्य न्याय वाली व्यवस्था थी। इस अराजक स्थिति से परेशान होकर व्यक्तियों ने आपस में समझौता किया। महाभारत में **भीष्म** ने राज्य को सप्तांग कहा है। ये सात तत्व हैं आत्मा, सेवक, कोष, दण्ड, मित्र, जनपद तथा पुर। इनसे मिलकर राज्य की उत्पत्ति होती है। महाभारत में राजतन्त्र को ही प्रमुख शासन तंत्र माना गया है। महाभारत में राजाओं की दिग्वजयों का उल्लेख मिलता है। इसका तात्पर्य है कि उस समय छोटे राज्य थे। महाभारत के शान्तिपर्व में यह बात भी कही गई है कि उस समय दो या अधिक राज्य मिलकर संघ का निर्माण भी करते थे। संघ में ''सभा'' नामक एक प्रभुता प्राप्त संस्था भी थी जिसमें संघ के सदस्यगण राज्यों के प्रतिनिधि सदस्य देते थे और वे बहुमत से प्रशासनिक समस्याओं पर अपने निर्णय देते थे।[22] महाभारत में शासन तथा राजा शब्दों का प्रयोग एक–दूसरे के लिए हुआ है। भीष्म का कहना है कि शासन का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण कार्य समस्त जनता की रक्षा करना है तथा एकमात्र उद्देश्य जनता को सुख पहुँचाना है। महाभारत में सभापर्व का उल्लेख मिलता है। इससे विदित होता है कि शासन कल्याणकारी था। **शान्तिपर्व** में भीष्म योग्य मन्त्री की आवश्यकता पर बल देते है। इस पर्व में स्थानीय शासन का भी वर्णन किया गया है। भीष्म ने कहा है युधिष्ठर ! एक गाँव का दस गाँव का, बीस गाँव का तथा हजार गाँव का एक–एक अधिपति बनाना चाहिये। गाँव के स्वामी का यह कर्तव्य हो कि वह गाँव की समस्याओं का तथा उस गाँव में जो अपराध होते है उन सबका पता लगाये और उनका पूरा प्रतिवेदन दस गाँव के मालिक के पास भेजे। इसी तरह दस गाँवो वाला बीस गाँव वाले के पास और बीस गाँव वाला सौ गाँव वाले के पास तथा सौ गाँव वाला हजार गाँव वाले अधिकारी के पास अपने गाँव का प्रतिवेदन भेजा करे। इसी तरह गाँव की व्यवस्था निर्मित थी।[23] महाभारत का स्थानीय शासन का यह स्वरूप गाँधी के ग्राम स्वराज अवधारणा के समतुल्य है।

महाजनपदों के युग में ग्राम स्वराज– उत्तर वैदिक काल तक आर्य राज्यों का आधार जन या जाति था। जो जाति या वंश जहाँ बसता था, उसके नाम पर प्रान्त का नाम पड़ जाता था। ऐसे राज्यो को जन या जातीय राज्य कहा जा सकता है। उस समय राज्य की कल्पना ही जातीय थी। हालाकि राज्य में दूसरी जाति के लोग भी बसते थे, परन्तु उनका स्थान गौण था। उत्तर वैदिक काल के बाद राजनीतिक जीवन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। भिन्न–भिन्न प्रदेश जातियों के बस जाने के कारण जनपद (जाति अथवा जन के बसने का स्थान) कहलाने लगे। अब जातीय या जन के स्थान पर जनपद या प्रदेश का महत्व बढ़ा। राज्य की कल्पना जातीय के बदले भौगोलिक हो गई। अब लोग जनपद के नाम से पुकारे जाने लगे। इस युग में ऐसे जनपदों का वर्णन मिलता है। इसमें 16 जनपद प्रधान थे। इसलिए **'षोड्श जनपद'** एक राजनीति मुहावरा हो गया। इन जनपदों की सूचियाँ बौद्ध, जैन, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा विशेषकर पालि भाषा के अंगुत्तर निकाय जैसे ग्रन्थों में पायी जाती है। इन जनपदों को महाजनपद भी कहा जाता है।[24]

बौद्ध ग्रन्थ **अंगुत्तर निकाय** के अनुसार 16 महाजनपदों में अंग, मगध, काशी, कौशल, वज्जि, मल्ल, वत्स, चेदि, कुरू, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अवन्ति, गान्धार, कम्बोज, अश्मक थे। जनपदों की सूची व अध्ययन से यह बात प्रतीत होती है कि भारतवर्ष कई राज्यों में बँटा था। ये जनपद भी कई राज्यों के छोटे–छोटे संघ थे। ये महाजनपद गणराज्य कहलाते थे क्योंकि ये गणराज्य स्वतन्त्र राज्य थे। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान **पाणिनी** ने भी अपने व्याकरण के ग्रन्थ **अष्टाधायी** में ऐसे राज्यों का उल्लेख किया है।[25]

गणराज्यों से तात्पर्य उन गणराज्यों से है जिनमें राजा शब्द का प्रयोग गणराज्य अध्यक्ष के लिए किया जाता था। उस समय राजा का निर्वाचन करने वाले भी स्वयं को राजा कहते थे क्योंकि वे राजा का निर्वाचन करते थे और स्वयं भी उस पद के लिए निर्वाचित हो सकते थे। महाभारत (शान्तिपर्व 107/30) के अनुसार गणराज्य में प्रत्येक व्यक्ति जन्म से समान था और समस्त कुलों में भी समानता होती थी। गणराज्य में समस्त नागरिक जन्म से समान समझे जाते थे। हालांकि उच्च पदों पर कुल (राजवंश) के लोग बैठते थे परन्तु उनका दृष्टिकोण लोकतान्त्रिक था। गणराज्यों में नागरिकों की स्वतन्त्रता और समानता की पूर्ण स्थापन की गई थी। गणराज्य में सरकारी पदों पर नियुक्ति एवं क्षमता के आधार पर ही की जाती थी। गणराज्यों में शासन और सत्ता के अधिकार किसी व्यक्ति विशेष के हाथों में केन्द्रित नहीं थे अपितु वे एक गण या समूह या परिषद् के हाथों में होते थे।[25] प्राचीन भारत में प्रजातंत्र शासन का यही स्वरूप था। इस अध्ययन से प्रतीत होता है कि गणराज्यों में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति अपनी सीमा पर पहुँच चुकी थी।

प्रत्येक गणराज्य की एक व्यवस्थापिका सभा होती थी जिसे **संस्थागार** कहते थे। राजवंश एवं अन्य वर्गों के प्रतिनिधि संस्थागार के सदस्य होते थे। संस्थागार में राज्य प्रशासन के नियमानुसार अधिवेशन होता था और प्रत्येक अधिवेशन तभी वैध माना जाता था जबकि उसमें सदस्यों की निश्चित संख्या गणपूर्ति (कोरम) के रूप में उपस्थित हो। विवादग्रस्त विषय जिस पर संस्थागार में निर्णय नहीं हो पाता था उस विषय को कुशल, अनुभवी और योग्य सदस्यों की एक समिति को निर्णय के लिए सौंपा जाता था। समिति के सभी सदस्यों का निर्वाचन किया जाता था। विवादग्रस्त विषय का बहुमत से निर्णय होता था और इसके लिए मतदान प्रणाली थी। **मतदान** को **''येभ्भुटयायिकेन''** कहा जाता था। मतदान की समस्त विधि को भली–भाँति पूर्ण करने वाला अधिकारी **''शलाका ग्राह्यक''** कहलाता था। संस्थागार के अधिवेशन एवं बैठकों की सभी कार्यवाही को लिखा जाता था। इसके लिए अलग कर्मचारी और अधिकारीगण नियुक्त थे। संस्थागार के अधिवेशनों में आज के समान ही दर्शकों को सभा की कार्यवाही देखने की व्यवस्था थी। गणराज्यों में प्रशासन की भाँति न्याय–व्यवस्था भी प्रजातंत्रीय थी। न्यायवस्था में अट्ठकुलक या आठ न्याय के अधिकारियों के सामूहिक निर्णयों की व्यवस्था की गई थी। इसमें एकमत से निर्णय न होने पर सम्भवतः बहुमत से निर्णय किया जाता होगा। इन जनपदों की अर्थव्यवस्था पशुपालन, कृषि, उद्योग, व्यवसाय और व्यापार पर आधारित थी। औद्योगिक जीवन में न्यायदान के लिए पूग (ग्राम समाज) तथा श्रेणी (कारीगरों का संघ) नामक संस्थाएँ थी। इन्हें न्याय सम्बन्धी अधिकार थे।[27]

गणराज्यों की विशालता के कारण स्थानीय स्वशासन को प्रोत्साहित किया जाता था। विशाल नगरों में स्थानीय स्वशासन प्रणाली थी। प्रत्येक एक बड़े नगर में एक परिषद् आधुनिक नगरपालिका के समान होती थी। ग्रामीण क्षेत्रों में स्वशासन हेतु छोटे कस्बों एवं ग्रामों में आधुनिक ग्राम पंचायत के समान स्थानीय परिषद् थी। नगर और ग्राम की संस्थाएँ अपने आन्तरिक कार्यों में लगभग स्वतंत्र रहती थीं। छोटे–छोटे गणराज्यों के संघ को **'संघात'** कहते थे। इस संयुक्त संघ की एक सभा होती थी जिसे **'संघातगण'** कहते थे और इस सभा में प्रत्येक गणराज्य के प्रतिनिधि होते थे। इस सभा का अध्यक्ष निर्वाचित होता था जिसे 'संघ मुख्य' कहते थे। इसके निर्वाचन के समय संघर्ष होता था। आन्तरिक मामलों में 'संघात' के गणराज्य पूर्णरूप से स्वतन्त्र थे। गणराज्य और उनकी प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली तत्कालीन राजनीतिक जागरूकता एवं अभिरूचि का द्योतक है। गौतम बुद्ध तो इन गणराज्यों की श्रेष्ठ प्रशासन व्यवस्था से इतने अधिक प्रभावित हुये कि उन्होंने अपने धर्म में बौद्ध संघ का संगठन इसी प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली के आधार पर किया। यद्यपि प्राचीन भारत के ये गणराज्य लुप्त हो गये, परन्तु निश्चय ही उनके द्वारा स्थापित प्रजातन्त्रात्मक परम्पराएँ आज भी मौजूद हैं। ये परम्पराएँ हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था की नींव हैं।[28]

जैन धर्म में प्रजातंत्रात्मक चिन्तन– भारत में छठीं शताब्दी ई0पू0 एक धार्मिक क्रान्ति हुई। जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म का आर्विभाव हुआ। इस क्रान्ति के नेता महात्मा बुद्ध एवं महावीर स्वामी

थे। जिन्होंने वैदिक धर्म में आई कुप्रथाओं का घोर विरोध किया और मानव जाति को निरन्तर शान्ति और अहिंसा का सन्देश दिया। वास्तव में ये दोनों धर्म वैदिक धर्म की शाखाएँ हैं जिन्होंने नैतिकता पर अधिक बल दिया और अन्य विश्वासों का खण्डन किया। **डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन्** के शब्दों में, ''महावीर अथवा गौतम ने किसी नये तथा स्वतन्त्र धर्म का प्रारम्भ नहीं किया। उन्होंने तो अपने प्राचीन वैदिक धर्म पर आधारित एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। जिन नैतिक सिद्धान्तों का जैन एवं बौद्ध मत में प्रतिपादन किया गया वे उपनषिदों में वर्णित हैं।''

जैन धर्म के 24 तीर्थंकर हुए हैं। प्रथम **ऋषभदेव** और अन्तिम **महावीर स्वामी** थे। जैन दर्शन का प्रसिद्ध, अनादि एवं सर्वोत्तम मन्त्र **'णमोकार मंत्र'** कहलाता था। जिससे किन्हीं व्यक्ति विशेष को नमस्कार न कर आत्मगुणों पर अधारित महान आत्माओं को नमस्कार किया गया है। भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी तक इनके अनुयायी इस मन्त्र का स्मरण करते आ रहे हैं। यह मंत्र जैन धर्म के संगठन एवं एकता का मूल आधार है।[29]

जैन साहित्य के ग्रन्थ **'आचारण सूत्र'** और **'उत्तराध्याय सूत्र'** में राजनीति और आचारशास्त्र के आपसी सम्बन्धों का कुछ वर्णन है। **'विशेषावयस्क सूत्र'** के भाष्य में देवताओं की पाँच श्रेणियाँ बताई गई है। जिसमें दूसरी श्रेणी नये देवों की है और राजा उसी में सम्मिलित है। राजा शासन की सफलता के लिए उचित दण्ड की व्यवस्था करता है। अपने सम्बन्धियों और शत्रुओं के बीच भी उसका व्यवहार निष्पक्ष होना चाहिये। जैन ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार की शासन प्रणालियों का उल्लेख किया गया है, किन्तु उनके सम्बन्ध में पर्याप्त विवरण नहीं दिया गया है। तत्कालीन समाज और विचारक इन प्रणालियों से परिचित थे। ये है– अरायाणि, गणरायाणि, जुरारायाणी, दोएरज्जायाणि, वैरज्जाणि और विरूद्ध रज्जाणि। इन शासन प्रणालियों में युवराज और द्विराज्य शासन प्रणालियाँ राजतन्त्रात्मक थीं तथा शेष का रूप जनतंत्रात्मक था। जैन सूत्रों में **भौज शासन प्रणाली** का भी उल्लेख किया गया है।[30]

बुद्धकाल में गणराज्य– भारत के लिए बौद्ध मत कोई नवीन धर्म नहीं है, अपितु परम्परागत हिन्दुस्तान का परिष्कृत रूप है। स्वामी विवेकानन्द ने बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध के विषय में लिखा है– ''सबका कल्याण महात्मा बुद्ध की प्रेरणा शक्ति थी। उन्हे स्वर्ग की आकांक्षा, सम्पति की तृष्णा नहीं थी, उन्होंने राज–पाठ और सर्वस्व त्याग किया और सागर के समान विशाल अन्तःकरण लेकर मानव और जीव मात्र के लिए भारत की गली–गली भिक्षाटन करते रहें।'' बौद्ध धर्म महायान एवं हीनयान दो सम्प्रदायों में विभाजित हैं। महात्मा बुद्ध के अनुयायियों को **'बौद्ध संघ'** कहा जाता है। यह संगठन उन अनुयायियों का था, जिन्होंने बौद्ध–भिक्षु का जीवन अपना लिया। गौतम बुद्ध के अनुयायी दो प्रकार के थे– भिक्षु तथा सामान्य गृहस्थी जन। बौद्ध संघ के सदस्य बौद्ध भिक्षु और बौद्ध भिक्षुणियाँ कहलाते थे। बौद्ध संघ के भिक्षु विहारों एवं मठों में रहकर अध्ययन एवं मनन करते थे और घूम–घूम कर बौद्धधर्म का प्रचार करते थे। गौतम बुद्ध का 'बौद्ध संघ' वास्तव में एक धार्मिक गणतन्त्र था जिसमें सभी सदस्यो के समान अधिकार थे। यह संगठन वास्तव में प्रजातांन्त्रिक था जो नैतिक मूल्यों पर आधारित था।[31]

संघ के कार्य को सम्पादित करने के लिए एक निश्चित विधान था, जो लोकतांत्रिक आधार पर निर्मित था। 'संघ' की सभा में प्रस्ताव (नन्ति) का पाठ होता था। प्रस्ताव तीन बार पढ़ा जाता था किसी को कोई आपत्ति न होने पर यह स्वीकृत माना जाता था। प्रस्ताव पाठ को **'अनुसावन'** कहते थे। मतभेद पर विवाद होता था और मत विभाजन (छन्द) मतदान द्वारा होता था। मतदान गुल्हक (गुप्त) तथा विवतक (प्रत्यक्ष) दोनों प्रकार से हो सकता था। मतदान के बाद बहुमत का निर्णय ही सर्वमान्य समझा जाता था। सभा की वैध कार्यवाही के लिए न्यूनतम उपस्थिति संख्या अर्थात् गणपूर्ति (कोरम) 20 थी। बौद्ध संघ धार्मिक प्रचार के साथ–साथ समाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक कार्य भी निर्वहन करते थे।[32] गौतम बुद्ध से जब पूछा गया कि गणराज्य की सफलता के लिए किन गुणों की आवश्कता होती है तो उन्होंने इसके लिए सात उत्तररदायी कारणों का उल्लेख किया जो निम्नलिखित है–

1. जल्दी–जल्दी सभाएँ करना तथा उनमें मताधिकार प्राप्त व्यक्तियों का अधिक से अधिक भाग लेना।
2. राज्य के कार्यों को एकमत होकर सहयोगपूर्वक संचालित करना।
3. कानून का कभी उल्लघंन न करना तथा समाज विरोधी कानूनों की रचना न करना।

4. वृद्ध व्यक्तियो के विचारों को महत्व देना तथा उनका पर्याप्त सम्मान करना।
5. कन्याओं एवं स्त्रियों के साथ बलात्कार न करना।
6. अपने धर्म में दृढ़ विश्वास रखना।
7. कर्त्तव्य परायण रहना।

बौद्ध काल मे गणराज्यों में शासन–व्यवस्था **लोकतान्त्रिक** एवं **विकेन्द्रित** थी। परन्तु वर्तमान व्यवस्था के समान प्रत्येक नागरिक को मतदान का अधिकार नहीं था। शासन का संचालन विशिष्ट वर्ग के लोग करते थे। जो क्षत्रिय होते थे। कुछ गणराज्यों में शासन का संचालन ब्राह्मण या वैश्य करते थे।[33] **डॉ0 काशीप्रसाद जायसवाल** ने प्राचीन गणसमाजों को रिपब्लिक, गणराज्य या प्रजातंत्र की संज्ञा दी है। उन्होंने लिखा है कि इनके यहाँ नागरिक–सेना थी। प्रत्येक राज्य में सम्पूर्ण जनता सशस्त्र थी। ("Each state was a nation-in-arms")। यही नागरिक खेती करते थे और उद्योग धन्धे भी चलाते थे। इससे स्पष्ट है कि इन गणों में जनता से अलग सेना न थी अर्थात् जनता संप्रभु थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और बौद्ध ग्रन्थों का हवाला देकर **डॉ0 के0पी0 जायसवाल** कहते हैं कि गण के सदस्य खेती भी करते थे ओर उद्योग–धन्धे भी चलाते थे। इससे फिर इस बात की पुष्टि होती है कि सत्ता और शासन उत्पादक वर्ग से अलग नही था। पूरा समाज का स्वायत्त शासन था। ("Communal Self-Governing habits")। शासन की पद्धति वर्गगत न होकर समाजगत थी। राजा शब्द से ही राजतन्त्र का अर्थ लगाना गलत है यदि राजा निर्वाचित था तो वैदिक काल तथा वेदोत्तरकालीन गणतन्त्र में कोई मौलिक भेद नहीं है। वास्तव में गण का नायक 'राजा' है। **बौद्ध साहित्य** में जिन गणों का उल्लेख है, उनके लिए डॉ0 जायसवाल ने कहा है कि निर्वाचित सभापति को राजा की पदवीं दी जाती थी। वैदिक 'राजा' के बारे में डॉ0 जायसवाल ने कहा है कि 'समिति' में एकत्र होने वाली जनता राजा का निर्वाचन करती थी। इस विवेचन से स्पष्ट हो रहा है कि 'वैदिककाल एवं वेदोत्तरकाल में जनता से अलग राज्य सत्ता सत्ता नहीं थी।'[34]

मौर्य युग में स्वराज– मौर्य काल के विशाल साम्राज्य के विभाजन व उनकी शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में जानकारी बहुत कम है परन्तु अशोक के लेखों से यह ज्ञात होता है कि मोर्य साम्राज्य पाँच भागों में विभक्त था।

1. प्राच्य– इस प्रान्त की राजधानी पाटलिपुत्र थी। यह प्रदेश सम्राट के प्रत्यक्ष शासन के अन्तर्गत था।

2. उदीच्य (उत्तरापथ)– इसके अन्तर्गत पंजाब, सिन्धु, कश्मीर, काबुल, कन्धार, हेरात एवं ब्लूचिस्तान के भाग सम्मिलित थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी।

3. अवन्तिरट्ठ (अवन्ति)– गुजरात, मालवा, काठियावाड़ तथा अन्य भाग अवन्ति प्रदेश के अंग थे। उज्जयिनी इसकी राजधानी थी।

4. कलिंग– इस प्रदेश की राजधानी तोसलि थी।

5. दक्षिणापथ– दक्षिण भारत के भाग इस प्रदेश के अंग थे। जिसकी राजधानी 'सुवर्ण गिरि' थी। इन पाँचों प्रान्तों में अनेक छोटे–छोटे मण्डल थे, जिनमें 'कुमारों' के अधीन 'महामात्य' शासन करते थे।[35] यद्यपि मौर्य प्रशासन में ही भारत में प्रथम राजनीतिक एकता हेतु सत्ता के केन्द्रीकरण का प्रबन्ध प्रकट होता है किन्तु शासन की सुविधा हेतु अनेक उपविभाग किए गए थे। **कौटिल्य** की रचना **अर्थशास्त्र** के अनुसार उपविभाग थे–

- **केन्द्र**– सर्वोच्च अधिकारी सम्राट, मन्त्रिपरिषद् व शीर्षस्थ अधिकारी 'तीर्थ' की सहायता से शासन का संचालन।
- **प्रान्त**– कुमार द्वारा शासन का संचालन।
- **आहार या विषय या मण्डल**– विषयपति द्वारा शासन का संचालन।
- **जनपद**– स्थानिक द्वारा प्रशासन का संचालन।
- **ग्राम**– गोप द्वारा शासन का संचालन।

प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी जिसके मुखिया को **ग्रामिक** कहा जाता था।[36] 800 ग्रामों के समूह को 'महाग्राम' या स्थानीय कहते थे। इसके अधिकारी को 'स्थानिक' कहते थे। 400 ग्रामों का समूह 'द्रोणमुख' एवं 200 ग्रामों का समूह 'खार्वटिक' तथा 10 ग्राम का समूह 'संग्रहण' कहलाता था। 'संग्रहण' के

अधिकारी को गोप और ग्राम के अधिकारी को ग्रामिक कहते थे। इस प्रकार मौर्यकाल में जिला 800 ग्राम का समूह था।[37] मौर्य काल में नगर के मुख्य अधिकारी को नागरिक कहते थे। नगर के प्रशासन हेतु 30 सदस्यों का एक मण्डल था। ये मण्डल 6 समितियों में विभाजित था। मौर्य शासन का स्वरूप इस प्रकार रहा है।

- **केन्द्र–प्रान्त–मण्डल–जनपद–द्रोणमुख–खार्वटिक–संग्रहण–ग्राम**

मौर्यकाल की यह प्रारम्भिक प्रशासनिक संरचना राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का द्योतक है। मौर्यकाल का जो ग्राम–प्रशासन है वह गाँधी के पंचायत राज से समानतायें प्रकट करता है। वास्तव में मौर्य युग में स्थानीय स्वशासन का विकास हुआ।[38] **गुप्तकाल** में स्थानीय स्वराज की रूपरेखा मौर्यकाल के समान ही रही। इस काल में सबसे बड़ा विभाग प्रान्त था जिसको देश या **भुक्ति** कहते थे। प्रान्त से छोटा विभाग 'प्रदेश' कहलाता था। जो आजकल की कमिश्नरी के समान था और इससे छोटा विभाग 'विषय' कहलाता था जो जिले के समकक्ष था। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। जिसका मुख्य अधिकारी ग्रामिक या महत्तर अथवा भोजक कहलाता था।

दक्षिण भारत का चोल–राज्य भी बहुत प्राचीन राज्यों में से है। **द्रविड़ प्रदेश** के प्राचीन राजाओं में चोल शिरोमणि थे। चोल शब्द 'चूल' से बना है। जिसका अर्थ है चूड या शिर या श्रेष्ठ। द्रविड़ प्रदेश में शिरोमणि होने के कारण वे 'चोल' कहलाये। चोल वंश ने उत्तर भारत के ब्राह्मण एवं क्षत्रियों को दक्षिण भारत में बुलाकर बसाया था। साहित्य एवं उत्कीर्ण लेखों में चोल वंश को सूर्य वंश भी कहा गया है। चोलों के शासन के सम्बन्ध में उनके उत्कीर्ण लेखों से काफी सामग्री मिलती है। उससे मालूम होता है कि चोलों का राज्य अच्छी तरह से संगठित था। सम्पूर्ण भाग को राज्यम् अथवा राष्ट्रम कहते थे। राष्ट्रम् कई प्रान्तों में बँटा था जिनको मण्डलम कहते थे। मण्डलम के उपविभाग कोट्टम् (कमिश्नरी) और कोट्टम के उपविभाग नाडु (जिला) थे। नाडु के उपविभाग कुर्रम (ग्राम समूह) और ग्राम होते थे।

दक्षिण भारत में स्वशासन या **पंचायत** प्रथा प्राचीन काल से लगातार चली आ रही है। चोलवंश का शासक राजराज प्रथम ने इस व्यवस्था को प्रोत्साहित किया था। उस समय राष्ट्र की छोटी–छोटी इकाइयाँ बनी और उन इकाइयों– मण्डल, नाडु और नगरों की अपनी सभाएँ होती थी। जो महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय लेती थीं। उस समय ग्रामसभा शिक्षा, सुरक्षा, सड़क, सिंचाई, मनोरंजन की व्यवस्था करती थी। चोरी अपराध के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। इस प्रकार चोलवंश में स्थानीय शासन से जनता में आत्मनिर्भरता थी। इस प्रकार से चोलवंश का ग्रामीण स्वशासन व गाँधी के ग्राम–स्वराज मे काफी समानताएँ हैं।[39]

निष्कर्ष– स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की अवधारणा विद्यमान थी। ग्रामीण स्तर पर शासन का अधिकार स्थानीय इकाइयों में निहित था। प्राचीन काल की स्थानीय संस्थाएं स्वायत्त थी और विकेन्द्रीकरण की भावना को प्रकट करती थीं। ग्रामीण स्तर पर पंचायतों के पास विशाल शक्तियाँ थीं तथा ये संस्थायें न्यायिक व प्रशासनिक दोनों प्रकार के कार्यों का संचालन करती थीं। प्राचीन भारत का विश्वास केन्द्रीकरण में न होकर सामूहिक स्वशासन में था। उस समय का प्रत्येक गाँव स्वशासित था। गाँव पर राज्य की राजनीति का अधिक प्रभाव नहीं था। प्राचीन भारत में शासन–व्यवस्था लोकतान्त्रिक एवं विकेन्द्रित थी।

सन्दर्भ–सूची

1. जोशी, आर0पी0 व मंगलानी, रूपा; पंचायती राज के नवीन आयाम, यूनिवर्सिटी बुक हाऊस (प्रा0) लि0, जयपुर, 2007, पृष्ठ–1, 2
2. वही, पृष्ठ–2
3. अवस्थी, अमरेश्वर एवं अवस्थी, आनन्द्रप्रकाश; भारतीय प्रशासन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, 1995, पृष्ठ–4
4. मजूमदार, आर0सी0; कारपोरेट लाइफ इन एशियंट इण्डिया, कलकत्ता, 1918, पृष्ठ–55
5. श्रीवास्तव, एन0के0; मनुस्मृति, श्लोक–1, पृष्ठ–115
6. प्रसाद, बेनी; दि स्टेटस इन एशियन्ट इण्डिया, भारतीय ग्रन्थ माला, इलाहाबाद, 1985, पृष्ठ–17
7. चन्द्र शुक्ल, विमल; प्राचीन भारतीय प्रायश्चित्त विधान, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2002, पृष्ठ–121, 122
8. वही, पृष्ठ–123, 124, 12

9. ग्रामीण स्थानीय प्रशासन, प्रिन्टवैल पब्लिशर्स, जयपुर, 1985, पृष्ठ–2, 3
10. प्राचीन भारतीय सामाजिक–राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1988, पृष्ठ–387
11. मिश्र, राजछत्र; अथर्ववेद में सांस्कृतिक तत्व, आनन्द प्रकाशन, इलाहाबाद, 1968, पृष्ठ–2, 9, 40,
12. पाण्डेय, वी0के0 व कुमार, विमलेश; प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2012, पृष्ठ–40
13. पाण्डेय, राजबली; प्राचीन भारत, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2000, पृष्ठ–56, 57
14. सिंघल, एस0सी0; प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, 2014, पृष्ठ–35
15. पाण्डेय, राजबली; प्राचीन भारत, पृष्ठ–76
16. वही, पृष्ठ–77
17. वही, पृष्ठ–85
18. वही, पृष्ठ–84, 85
19. सिंघल, सुरेश चन्द्र; प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2014, पृष्ठ–82
20. वही, पृष्ठ–88;
21. वही, पृष्ठ–96, 97
22. वही, पृष्ठ–97, 98
23. वही, पृष्ठ–101–103
24. पाण्डेय, राजबली प्राचीन भारत, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2000, पृष्ठ–91
25. लुणिया, बी0एन0; प्राचीन भारतीय संस्कृति, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 2003, पृष्ठ–212.
26. वही, पृष्ठ–213
27. वही, पृष्ठ–220– 222
28. वही, पृष्ठ–223, 224
29. सिंघल, सुरेशचन्द्र; प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 2014, पृष्ठ–179, 180
30. वही, पृष्ठ–189
31. वही, पृष्ठ–195, 206
32. वही, पृष्ठ–207
33. वही, पृष्ठ–212
34. शर्मा, रामविलास; मानव सभ्यता का विकास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृष्ठ–60, 62, 63
35. पाण्डेय, वी0के0; प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2012, पृष्ठ–147
36. जोशी, आर0पी0 व मंगलानी, रूपा; पंचायतीराज के नवीन आयाम, यूनिवर्सिटी बुक हाउस (प्रा0)लि0, जयपुर, 2007, पृष्ठ–2
37. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ–147, 148
38. पंचायतीराज के नवीन आयाम, पृष्ठ–2
39. पाण्डेय, राजबली; प्राचीन भारत, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2000, पृष्ठ–263, 395, 399, 400

LBP PUBLICATION